ॐ

॥ नमः सिद्धेभ्यः ॥

योगसार प्रवचन

(भाग - दो)

पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के योगसार पर हुए धारावाहिक प्रवचन

जीव सदा अकेला है

उक्क उपज्जइ मरइ कु वि दुहु सुहु भंजइ इक्कु।
णरयहं जाइ वि इक्क जिउ तह णिव्वाणहँ इक्कु॥ ६९॥

जन्म-मरण एक हि करे, सुख-दुःख वेदत एक।
नरक गमन भी एक ही, मोक्ष जाय जीव एक॥

अन्वयार्थ - **(इक्क उपज्जइ मरइ कु वि)** जीव अकेला ही जन्मता है व अकेला ही मरता है **(इक्कु दुहु सुहु भुजंइ)** अकेला ही दुःख या सुख भोगता है **(इक्क जिय णरयहं जाइ वि)** अकेला ही जीव नरक में ही जाता है **(तह इक्कु णिव्वाणहँ)**तथा अकेला जीव ही निर्वाण को प्राप्त होता है।

वीर संवत २४९२, आषाढ़ कृष्ण २, सोमवार, दिनाङ्क ०४-०७-१९६६
गाथा ६९ से ७१ प्रवचन नं. २५

योगीन्द्रदेव दिगम्बर मुनि भरतक्षेत्र में बहुत सैंकड़ों वर्ष पूर्व हुए, उन्होंने यह

'योगसार' बनाया है। योगसार, अर्थात् ...इस आत्मा का शुद्ध स्वभाव, पवित्र अनादि है, उसमें एकाकार होना, वह धर्म का सार है। कुछ समझ में आया? आत्मा... देखो! ६९ में यह आता है – **जीव सदा अकेला है।**

उक्क उपज्जइ मरइ कु वि दुहु सुहु भंजइ इक्कु।
णरयहं जाइ वि इक्क जिउ तह णिव्वाणहँ इक्कु॥ ६९॥

देखो! क्या कहते हैं? **जीव अकेला ही जन्मता है और अकेला ही मरता है।** अकेला जीव मरता है, देह छूटती है तो स्वयं को अकेले को ही मरना पड़ता है। कोई स्वजन, परिवार साथ नहीं आ सकता और अकेला जन्मता है। जन्म में भी कोई साथ नहीं है। पूर्व के कोई कुटुम्बी, उनके लिए पाप किये हों तो साथ कोई आता है? नरक में जन्म ले, पशु में जन्म ले; स्वयं अकेला जन्मता है और अकेला मरता है, कोई साथ में नहीं है।

इक्क जिप णरयहं जाइ – जैसे भाव किये हों, वैसे अपने भाव लेकर नरक में जाता है। अकेला नरक में जाता है, कोई कुटुम्ब-परिवार साथ नहीं आता। मैंने तुम्हारे लिए पाप किये, हमारे साथ तो चलो! और **इक्क णिव्वाणहं – तथा अकेला जीव फिर निर्वाण पाता है।** अपना शुद्धस्वरूप, परमानन्द परमस्वरूप, उसकी एकत्वबुद्धि / दृष्टि एकान्त निर्मल करके, अपने स्वभाव में स्थिर होकर आत्मा अपने से स्वयं से अकेला मोक्ष में जाता है। कहो, समझ में आता है? कोई गुरु भी साथ में नहीं आते, केवली भी साथ में नहीं आते, शास्त्र साथ में नहीं आते, संघ साथ में नहीं आता; अपना स्वरूप शुद्ध चैतन्य है, उसको पुण्य-पाप के राग से भिन्न करके, निज स्वरूप में एकत्व करके अपना आत्मा ही अपने को निर्वाण प्राप्त कराता है, उसमें किसी की मदद-सहायता नहीं है। कहो, समझ में आता है?

यहाँ एकत्व भावना का विचार किया गया है। इस श्लोक में एकत्व भावना – मैं अकेला हूँ – (उसका विचार किया है।) **इस जीव को अकेले.. जन्मना और अकेले ही मरना पड़ता है। प्रत्येक जन्म में माता-पिता, भाई-बन्धु इत्यादि मित्रों और अन्य चेतन-अचेतन पदार्थों का संयोग होता रहा और छूटता रहा है।** अनेक जन्मों में कुटुम्ब का संयोग हुआ और संयोग छूट गया, स्वयं तो अकेला ही रहा, कोई साथ नहीं आया – ऐसा जानकर अपने स्वरूप का अन्तर साधन करना – यह कहते हैं। योगसार

है न ? समझ में आया ? **इस जीव को अकेले ही सबको छोड़कर दूसरी गति में जाना पड़ा। एक पाप-पुण्य कर्म ही साथ रहा।** जैसा पुण्य और पाप किया, वे साथ आये, दूसरा तो कोई साथ आता नहीं।

कर्मों का बन्ध अकेला ही भोगता है। समझ में आया ? शास्त्र में-कथा में-एक दृष्टान्त है कि छोटे भाई के लिये बड़े भाई ने बहुत पाप किये थे। छोटा भाई रोगी था, बड़ा भाई उसे माँस, अण्डे लाकर खिलाता, उसे पता नहीं कि यह माँस है, फिर बड़ा भाई मरकर नरक में गया और छोटा भाई जम, परमाधामी हुआ। दोनों सगे भाई, जिसके लिये पाप किये थे वह मरकर परमाधामी हुआ, पाप करनेवाला नारकी हुआ। (परमाधामी उसे) मारता है। अरे... ! भाई ! परन्तु मैंने तेरे लिये किया था न ! मेरे लिये (करने का) कौन कहता था ? तुम्हारे लिये मैंने पाप किये थे और तेरे लिये कुपथ्य / अण्डा लाकर दिये थे, माँस, लाकर दिया, मछली का माँस दिया, यह हलुआ है – ऐसा कहकर मैंने दिया था। (तो परमाधामी कहता है) मुझे तो पता नहीं, तूने ऐसा क्यों किया ? मैं तो परमाधामी हुआ हूँ, इसलिए मैं तो मारूँगा। समझ में आया ? यह पुण्य और पाप जैसे शुभाशुभ (भाव) किया है (वे) अकेले को भोगना पड़ते हैं।

परिवार के लिये करे तो कहते हैं **नरक आयु का बन्ध पड़ता है तो यह जीव अकेले ही नरक में जाकर दुःख सहना पड़ता है। कोई कुटुम्बीजन उसके साथ नहीं आ सकता।** आ सकता है कोई ? और **अपने साथ कोई मित्र-स्त्री, पुत्र को नहीं ले जा सकता।** भाई ! चलो, तुम मेरे अत्यन्त नजदीकी मित्र थे, साथ तो आओ, साथ तो आओ ! हम तो पचास-साठ-साठ वर्ष साथ रहे, स्त्री-पत्नी साठ-सत्तर वर्ष साथ रहे, लो ! चलो मैं जाता हूँ, तुम भी साथ आओ। **हर एक जीव की सत्ता निराली है।** किसी की सत्ता किसी के साथ (मिली हुई) नहीं है। जिसने जैसे भाव किये वैसा वह (भोगता) है।

कर्मों का बन्ध निराला है भावों का पलटना निराला है... समस्त जीवों का कर्मबन्धन निराला और भावों का (पलटना) भी निराला और **साता और असाता का भोगना निराला है।** ठीक है, रतनचन्दजी ! सबका निराला ? पत्नी पचास-साठ-सत्तर वर्ष साथ रहे तो भी (निराला) ?

मुमुक्षु : सब साथ होकर भोगेंगे ?

उत्तर : सब साथ होकर भोगेंगे या नहीं ? ऐ...ई... धूल में भी नहीं भोगते, सब अपने राग को भोगते हैं, भिन्न-भिन्न राग करके भोगते हैं, पैसा कहाँ भोगते हैं ? पैसा कोई खा जाता है ? आहा... ! देखो।

चार भाई हों तो एक ही स्थिति में नहीं रह सकते। चार भाईयों का दृष्टान्त दिया है। है ? इसमें ? **चार भाई हों तो एक ही स्थिति में नहीं रह सकते। एक धनवान होकर सांसारिक सुख भोगता है।** देखो, सांसारिक सुख भोगता है अर्थात् दुःख (भोगता है)। **एक निर्धन होकर कष्टपूर्वक जीवन निर्वाह करता है, एक विद्वान् होकर देश प्रसिद्ध हो जाता है...** विद्वान् होवे तो देश में प्रतिष्ठा होती है। उसमें क्या ? **एक मूर्ख रहकर सबसे निरादर पाता है।** चार भाई के चार (प्रकार)। श्रेणिक, अभयकुमार, एक साथ जीमते थे। बहुत प्रीति थी, श्रेणिक राजा को अभयकुमार के प्रति बहुत प्रीति थी और वह तो दीवानपने का काम करता था और बहुत बुद्धिमान। अभयकुमार की बुद्धि हो ऐसा बनिये लिखते हैं या नहीं ? बहियों में लिखते हैं।

मुमुक्षु : ग्राहक को सम्हालना आता है ?

उत्तर : सम्हालना क्या आता है ? वह बुद्धिवाला था तो यह कहे हमको बुद्धि दो। किसकी बुद्धि ? तुम्हें ऐसे मिल जाती होगी ?

कहते हैं, उस अभयकुमार के प्रति कितनी प्रीति थी। अभयकुमार स्वर्ग में गया, श्रेणिक राजा नरक में गया। समझ में आया ? एक साथ भोजन करते थे। एक नरक में गया-एक स्वर्ग में गया, कोई मोक्ष में गया। समझ में आया ? दूसरे राजकुमार साथ में थे, वे मोक्ष में गये। जैसी अपनी पर्याय करते हैं, वैसा उसका फल मिलता है। एक साथ भोजन करनेवाले... शास्त्रपाठ भेद ऐसा है। एक साथ भोजन करनेवाले भी शास्त्रपाठ में भेद, एक नरक में जाते हैं और एक मोक्ष में जाते हैं - ऐसा देख। मांगीरामजी ! क्या कहते हैं ? देखो ! कहते हैं, तू अपने परिणाम सुधार और अपना आत्मा शुद्ध आननदकन्द है - ऐसी दृष्टि करके आत्मा का ध्यान अनुभव कर, यही मोक्ष का उपाय है; दूसरा कोई उपाय नहीं है। समझ में आया ?

जब रोग आता है, तब इस जीव को उसकी वेदना स्वयं ही सहनी पड़ती है।

पास में बैठनेवाला भी इस वेदना को नहीं भोग सकता है। पास में बैठे हो न? हाथ फेरे, हाथ। रोग का थोड़ा भाग वह ले या नहीं? कौन ले? समझ में आया? **संसार के कार्यों में भी इस जीव को अकेला ही वर्तना पड़ता है।** संसार में भी अकेला ही वर्तता है न? **सब ही संसारी जीव अपने-अपने स्वार्थ के साथी हैं। स्वार्थ न सधने पर स्त्री-पुत्र, मित्र, चाकर सब प्रीति त्याग देते हैं।** स्वार्थ न हो तो छोड़ देते हैं। नहीं, उसमें कुछ है नहीं। कमाते थे, तब तक ठीक है, अब कमाते नहीं। ठीक है या नहीं? मांगीरामजी!

मुमुक्षु : .....

उत्तर : सब होवे तो सबको ऐसा ही है। तुमको एक को 'महासुख' को छोड़े तो क्या हो गया? उसे भी अन्दर में तो ऐसा ही होता है। कहो, समझ में आया... आहा...हा...!

दूसरों के असत्य मोह में पड़कर पापकार्य नहीं करना चाहिए...। नौका में पथिकों के समान सर्व संयोगों को छूटनेवाला अस्थिर मानना चाहिए। एक नौका में सब बैठे हों, सब पथिक अपने-अपने घर चले जाते हैं, अपने गाँव में चले जाते हैं। साथ बैठे हों वे सब एक गाँव में जाते हैं, ऐसा है? एक नौका में बैठे हों तो एक व्यक्ति एक गाँव में जाता है, दूसरा दूसरे गाँव में जाता है, तीसरा तीसरे में; ऐसे ही एक घर में पच्चीस व्यक्ति आये एक जाता है नरक में, एक जाता है स्वर्ग में, एक जाता है मोक्ष में। जैसा अपना आत्मा का पुरुषार्थ करे वैसा उसका फल मिलता है। किसी का साथ -सहायक नहीं है। समझ में आया?

इसलिए राग-द्वेष-मोह न करके समभाव में रहना चाहिए। ऐसा कहते हैं। भगवान आत्मा ज्ञाता-दृष्टा है, उसमें दया-दान आदि विकल्प भक्ति-यात्रा का (भाव) आवे वे सब पुण्यभाव हैं, वे धर्मभाव नहीं हैं। हिंसा, झूठ, चोरी, विषय-भोग-वासना, वह पाप है। दया, दान, भक्ति, व्रत, तप, पूजा, यात्रा पुण्य है। दोनों राग से अपना आत्मा भिन्न है – ऐसा जानकर अपनी आत्मा की श्रद्धा, ध्यान करना, वही अपनी शुद्धि की वृद्धि का कारण है। वही मोक्ष का कारण है। कहो, समझ में आया?

यदि रत्नत्रयधर्म का सम्यक् प्रकार से आराधना करे तो आप ही अकेला

निर्वाण पा सकता है। संसार के समस्त परिवारी नरक में जायें, चार गति में जाये, भले जाओ, आत्मा - अपना शुद्धस्वरूप चैतन्यमूर्ति है। समझ में आया? अपना आत्मा शुद्ध चैतन्य आनन्दकन्द है – ऐसी उसकी रुचि / दृष्टि करके, आत्मा का ज्ञान करके आत्मा में ही लीन होना, वही रत्नत्रय एक ही मोक्ष का कारण है। वह रत्नत्रय स्वयं से होता है; किसी दूसरे से नहीं होता। अपने आत्मा के आश्रय से होता है, उसमें किसी की सहायता नहीं है; भगवान – देव-गुरु-शास्त्र भी उसमें मदद नहीं करते। समझ में आया?

एक व्यक्ति भगवान के मन्दिर में माला जपता था। 'सनोसरा' वाले अमरचन्दभाई थे न? अमरचन्दभाई थे, उमराला रहते थे न? अमरचन्दभाई विसाश्रीमाली, वे वहाँ मन्दिर में माला जपते थे, वहाँ मर गये। इसलिए ऐसा कि ओ...हो...! मन्दिर में मरे। मन्दिर में (मरे) तो क्या हुआ? माला जपते हों तो शुभभाव है, उससे पुण्य है। समझ में आया? वह धर्म-वर्म है नहीं। लोग कहते हैं ओ...हो...! बहुत भाग्यशाली हैं! ऊपर से मुर्दा उतारा। वहाँ भगवान के मुख्य मन्दिर में मर गये थे। माला जपते थे, वहीं देह छूट गयी। यह 'सनोसरा' के थे न? अमरचन्दभाई थे, विसाश्रीमाली, मन्दिरमार्गी। वहाँ रहते और मकान यहाँ था। हमारे उमराला में मकान बनाया, यहाँ आते थे। उन्हें लेकर 'सनोसरा' गये थे, ऊपर से मुर्दा उतारा तो लोग कहते हैं, ओ...हो...! सिद्धगिरि में रखे। सिद्धगिरि में (मरे परन्तु) नरक में जाये, उसमें क्या है? सिद्धगिरि में मरे और नरक में जाये। धीरूभाई! और साधारण शुभभाव होवे तो पुण्य बाँधे, उसमें कहीं कल्याण हो जाये, जन्म-मरण का अन्त आवे - (ऐसा नहीं है।) भगवान के समक्ष बैठा हो तो भी जैसा राग करे वैसा बन्ध पड़ता है। समझ में आया? पुण्य-पाप के भाव से मेरी चीज भिन्न है। मेरी चीज ही भिन्न है – ऐसे अपने आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान करे तो उसे रत्नत्रय प्रगट होने पर उसकी मुक्ति होती है, दूसरे किसी उपाय से मुक्ति नहीं है।

प्रत्येक जीव का द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव दूसरे जीव से निराला है। ठीक है? क्या कहा? प्रत्येक जीव-प्रत्येक जीव, उसका द्रव्य भिन्न, क्षेत्र भिन्न, काल भिन्न और भाव भिन्न है। **प्रत्येक जीव परम शुद्ध है।** लो, उतारा है सही, कहीं दूसरा उतारा होगा, ठीक है। उसमें उतारा है, सत्तर में उतारा है – द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव उतारा है। प्रत्येक जीव

का परमधर्म शुद्ध है। **प्रत्येक जीव परम शुद्ध है, न उसे आठ कर्मों का संयोग है, न शरीर का संयोग है, न विभावभावों का संयोग है।** पुण्य पाप के दया-दान के भाव ये भी संयोगी चीज है; आत्मा की नहीं। वे सब विभाव परभाव हैं। ऐसे अपने अकेले स्वभाव की दृष्टि करके विचारना और **मैं सिद्ध के समान शुद्ध-निरञ्जन और निर्विकार हूँ।** इस प्रकार अपने को अकेला जानकर **अपने स्वभाव में मग्न रहना चाहिए।** श्रद्धा -ज्ञान करके स्थिर रहना, वही मोक्ष का मार्ग है; दूसरा कोई धर्ममार्ग नहीं है।

अन्त में भी कहा है, देखो! 'वृहद् सामायिक' पाठ है न? बड़ी सामायिक का पाठ है। **तू मूढ बनकर यह मिथ्या कल्पना किया करता है कि मैं गोरा हूँ, रूपवान हूँ, मजबूत शरीर हूँ, पतला हूँ, कठोर हूँ, देव हूँ, मनुष्य हूँ, पशु हूँ, नारकी हूँ, नपुंसक हूँ, पुरुष हूँ, स्त्री हूँ।**

तू अपने आत्मा को नहीं जानता है कि यह एक अकेला ज्ञानस्वभावी,... (है) भगवान ज्ञानस्वरूप, ज्ञानस्वभाव, चैतन्यमूर्ति निर्मलानन्द **सर्व दुःखरहित अविनाशी द्रव्य है।** नाश न हो ऐसा पदार्थ है, ऐसे पदार्थ की अन्तरदृष्टि करके रत्नत्रय प्रगट करना, वह स्वयं का स्वतन्त्र कारण है। उसमें किसी की सहायता नहीं है।

☆ ★ ☆

निर्मोही हो आत्मा का ध्यान कर

एक्कुलउ जइ जाइसिहि तो परभाव चएहि।
अप्पा झायहि णाणमउ लहु सिव-सुक्ख लहेहि॥ ७०॥

यदि जीव तू है एकला, तो तज सब परभाव।
ध्यावो आत्मा ज्ञानमय, शीघ्र मोक्ष सुख पाय॥

अन्वयार्थ - (**जइ एक्कुलउ जाइसिहि**) यदि तू अकेला ही जायेगा (**तो परभाव चएहि**) तो राग, द्वेष, मोहादि परभावों को त्याग दे (**णाणमउ अप्पा झायहि**) ज्ञानमय आत्मा का ध्यान कर (**लहु सिव-सुक्ख लहेहि**) तो शीघ्र ही मोक्ष का सुख पाएगा।

☆ ★ ☆

७०, **निर्मोही होकर आत्मा का ध्यान कर।**

एक्कुलउ जइ जाइसिहि तो परभाव चएहि।
अप्पा झायहि णाणमउ लहु सिव-सुक्ख लहेहि॥ ७०॥

यदि तू अकेला ही जायेगा... हे आत्मा! तू अकेला देह, परिवार सबको छोड़कर जायेगा **तो राग-द्वेष-मोहादि परभावों को त्याग दे।** भगवान! पर में राग-द्वेष, पुण्य-पाप के भाव और पर में मोह छोड़कर अपना शुद्ध स्वभाव... योगसार है न! अपना शुद्ध पवित्र स्वभाव का अन्दर ध्यान कर। उसमें लौ लगा दे तो परभाव छूट जायेंगे। **ज्ञानमय आत्मा का ध्यान कर।** भगवान आत्मा ज्ञायक..., ज्ञायक..., ज्ञायक..., जाननेवाला..., जाननेवाला..., जाननेवाला... यह जाननेवाला चैतन्य वह मैं हूँ। इसके अतिरिक्त कोई रागादि, (वह मैं नहीं हूँ)। जहाँ-जहाँ ज्ञान, वहाँ-वहाँ मैं; जहाँ-जहाँ ज्ञान नहीं, वहाँ-वहाँ मैं नहीं। रागादि, दया-दान-भक्ति-व्रत, यात्रा का विकल्प उत्पन्न होता है, वह आत्मा नहीं है, वह तो राग है। जहाँ-जहाँ ज्ञान, वहाँ-वहाँ आत्मा। जहाँ-जहाँ ज्ञान नहीं तो राग में यह ज्ञान नहीं है; (इसलिए वह मैं नहीं हूँ) समझ में आया? यह पुण्यपरिणाम है, वह ज्ञान नहीं है। जहाँ ज्ञान नहीं है, वहाँ आत्मा नहीं है। समझ में आया? बहुत सूक्ष्म, भाई! आत्मा... आत्मा।

भाई! आत्मा तो चैतन्य ज्योत है न! चैतन्यज्योत है। जहाँ-जहाँ चैतन्य है, वहाँ-वहाँ आत्मा है; और जहाँ-जहाँ रागादि उत्पन्न होते हैं, वहाँ चैतन्य नहीं है। आहा...हा...! समझ में आया? ऐसा अपना चैतन्यमय स्वरूप, रागादि अचेतन से अत्यन्त भिन्न है - ऐसा जानकर अपने स्वरूप की एकाग्रता करना, उसका नाम योगसार है। कहो, समझ में आया? **तो तू शीघ्र ही मोक्ष का सुख प्राप्त करेगा।** लो, **आचार्य कहते हैं कि हे शिष्य! यदि तुझको यह निश्चय हो गया है कि तू एक दिन मरेगा, तब तुझे परलोक में अकेला ही जाना पड़ेगा; कोई भी चेतन या अचेतन पदार्थ तेरे साथ नहीं जायेंगे। जिनसे तू राग करता है, वे सब यहाँ ही छूट जायेंगे,...** जिनसे तू राग करता है कि यह मेरे पिता, मेरी माता, मेरी स्त्री, मेरा परिवार, मेरा पुत्र, मेरा मकान, मुनीम (वे सब) जिनके प्रति तू राग करता है, वे सब छूट जायेंगे। समझ में आया? **तब तेरा**

उनसे राग करना वृथा है। जिनके प्रति तू राग करता है, वे वस्तुएँ तो छूट जायेंगी, तेरे साथ तो आयेंगी नहीं, इसलिए तेरा राग वृथा है। तेरे साथ तो वे परपदार्थ आते नहीं हैं। **ऐसे क्षणभंगुर पदार्थों से राग करना, शोक व दुःख का कारण है।** ठीक लिखा है।

इसलिए तू अब ऐसा काम कर कि जिससे तुझे स्थिरता प्राप्त हो... ध्यान, ध्यान कहा न? ऐसा कर कि जिसमें आत्मा अपनी ज्ञानभूमिका में आ जाये। समझ में आया? ऐसा काम करो कि चैतन्य भगवान आत्मा अपनी ज्ञानभूमि में आ जाएगा। राग -विकल्प आदि भूमि आत्मा की नहीं है। समझ में आया? **अविनाशी मोक्ष का अनुपम सुख प्राप्त हो...** इत्यादि बहुत लिखा है। **मृत्यु आने से पहले ही तू ऐसा प्रयत्न कर ले, वह तेरे लिये योग्य है।** तुझे योग्य है कि देह छूटने से पहले यत्न कर! देह छूटेगी उस समय यत्न नहीं होगा। घर जलेगा तब कुएँ में से पानी निकालूँगा, नहीं निकलेगा; घर जल जायेगा। देह छूटने का अवसर आया, अब धर्म करो। क्या धर्म करे?

मुमुक्षु : मरने से पहले बसीयतनामा कर लेना?

उत्तर : मरने से पहले आत्मा का यत्न करना। बसीयतनामा क्या करे? मर जाये वसीयत में घुस जाना है इसे? मरने से पहले आत्मा का यत्न करना - ऐसा कहते हैं। समझ में आया?

मानव शरीर से ही शिवपद मिल सकता है। देव, नारकी, पशु के शरीर में रहकर कभी भी शिवपद प्राप्त नहीं हो सकता। यह अवसर गँवाना योग्य नहीं है। वह उपाय यही है कि जो-जो द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव अपने नहीं हैं, उन्हें पर समझकर उन सबसे राग हटा ले। क्या कहते हैं? देखो! अपने से परद्रव्य भिन्न, परक्षेत्र भिन्न, परदशा भिन्न, परभाव भिन्न है, तो जो अपने से परद्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव है; ऐसा समझकर सबसे राग उठा ले। इन देव-शास्त्र-गुरु की ओर से भी राग उठा ले - ऐसा कहते हैं। आहा...हा...! है? पानी में 'गुणवन्त' अकेला मरा होगा, तब फूलचन्दभाई को पुकार किया होगा? कि फूलचन्दभाई नहीं मिलते, अरे...! यहाँ कोई बापू नहीं मिले, अकेले जाना? आहा...हा...! अकेले अन्दर में घुस कर अकेला ध्यान करे तो कोई विघ्न करे ऐसा है? है? मेरा ज्ञान, मेरा ज्ञान, मेरा ज्ञान... लो! 'सेठिया' कहते हैं न? सेठिया नहीं? मेरा ज्ञान, मेरा ज्ञान। यह ज्ञानस्वरूप आत्मा जाननेवाला है, वह जाननहार स्वरूप

भूमिका मेरी है। जितने रागादि उत्पन्न होते हैं, वह मेरी भूमिका नहीं है। मेरे स्थिरता की वह जगह नहीं है। आहा...हा... ! बाहर तो स्थिरता करने का नहीं है, अन्दर में भी दया, दान, व्रत, भक्ति के तप के भाव आते हैं, उसमें ठहरने की भूमिका नहीं है; वह तो उसमें से निकलने की भूमि है। अपना शुद्धस्वरूप ज्ञानभगवान, जिसमें महान परम शान्ति और आनन्द भरा है। ऐसे प्रभु आत्मा में रुचि-दृष्टि करके उसे स्थिरता की भूमि जानकर उसमें स्थिरता करना, वह स्वयं से अकेले से होती है (उसमें) किसी की सहायता-मदद नहीं है। ओहो... ! (सब ओर से) राग उठा ले।

केवल अपने ही ज्ञानस्वरूपी आत्मा के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव को अपना जानकर उसमें ही परम रुचिवान हो जा।

अब इसका खुलासा करेंगे, हाँ! **उसका ही प्रेमी हो जा, उसमें ही मग्न रहने का, उसके ही ध्यान का अभ्यास कर, आत्मा का रस पीने का उद्यम कर..** बाद में खुलासा करेंगे। **मेरा आत्मा अखण्ड अभेद एक द्रव्य है।** देखो, यह द्रव्य। मैं अभेद अखण्ड पदार्थ आत्मा हूँ, वह मेरा द्रव्य / वस्तु। द्रव्य अर्थात् पैसा ? ऐ...इ... ! **असंख्यात प्रदेशी क्षेत्र है...** असंख्य प्रदेश, वह मेरा क्षेत्र है; बाहर के मकान, मकान का क्षेत्र (मेरा नहीं है)। 'राणपुर' का क्षेत्र, 'इन्दौर' का क्षेत्र, 'लाडनू' का क्षेत्र... ! रतनलालजी ! यह क्षेत्र किसका है ? वह तो पर का है, अपना क्षेत्र असंख्य प्रदेश है। असंख्य प्रदेश अपना क्षेत्र है। अपना अखण्ड द्रव्य वह अपना द्रव्य है।

और **समय परिणमन काल है।** अपनी एक समय की परिणमन दशा वह अपना काल है। दिवस, पहर, रात्रि, वह कोई अपना काल नहीं है। समझ में आया ? द्रव्य की अपनी वर्तमान परिणति – अवस्था, एक समय की दशा, वह अपना काल है; दूसरा अपना काल नहीं है। **ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्यादि शुद्धभाव हैं...** द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव लिये। मुझमें ज्ञान-दर्शन आनन्दादि त्रिकालभाव हैं। वह शुद्धभाव मेरा भाव है। शुद्धभाव मेरा भाव है, वर्तमान अवस्था मेरा काल है; असंख्य प्रदेश मेरा क्षेत्र है, अखण्ड द्रव्य मै वस्तु हूँ, समझ में आया ? **यही मेरा सर्वस्व है।** लो, **कर्म-संयोग से होनेवाले राग, द्वेष, मोह, भाव सङ्कल्प-विकल्प-विभाव मतिज्ञानादि चार ज्ञान आदि सब**

पर हैं। कर्म के संयोग से दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, काम, क्रोध (भाव हों), वे सब भाव मेरे आत्मा से भिन्न है – ऐसे श्रद्धा, ज्ञान करना। सङ्कल्प-विकल्प और विभाव मतिज्ञानादि चार,... लो! इस ओर हैं न? भाई! कुछ समझ में आया? मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधि, मन:पर्यय भी एक समय की पर्याय विशेष है। सामान्य स्वभाव त्रिकाल से वह भिन्न है। **जिन-जिन भावों में पुद्गल का निमित्त है, वे सब भाव मेरे निज स्वभाविकभाव नहीं हैं...** लो! जिस भाव में कर्म का निमित्त है, वह मेरा स्वभावभाव नहीं है, सब पर है। आहा...! राग-द्वेष तो पर; पुण्य-पाप, दया-दान का भाव पर, परन्तु निमित्त की अपेक्षा रखकर क्षयोपशम ज्ञानादिक हैं, वे भी पर हैं। मैं त्रिकाल ज्ञान -चिदानन्दस्वरूप हूँ – ऐसी दृष्टि करना, ऐसी श्रद्धा करना और उसका ज्ञान करना, वही अपना स्वभाव है। समझ में आया? **मैं तो एकाकार परम शुद्ध स्वसंवेदनगोचर एक अविनाशी द्रव्य हूँ।** भगवान आत्मा स्वसंवेदन – अपने ज्ञान से ज्ञान में जानने में आता है। ज्ञान अपने ज्ञान से ज्ञान जानने में आता है – ऐसा स्वसंवेदन-स्व से प्रत्यक्ष ज्ञान से प्रत्यक्ष होनेवाला मैं आत्मा हूँ, उसका नाम आत्मा। रागादि पर है उनके साथ मेरा सम्बन्ध नहीं है। ओ...हो...! समझ में आया?

समयसार का दृष्टान्त दिया है। **सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र एकतारूप ही एक निश्चित मोक्षमार्ग है...** एक ही मोक्षमार्ग है। व्यवहार-व्यवहार मोक्षमार्ग नहीं हैं। भगवान आत्मा पूर्ण चैतन्यभाव शुद्ध उसका अन्तर सम्यग्दर्शन, उसका निर्विकल्प ज्ञान, उसकी वीतरागी पर्याय (हो) वह एक ही मोक्षमार्ग है। दो मोक्षमार्ग नहीं हैं। **जो कोई अन्य द्रव्यों का स्पर्श न करके एक इस ही आत्मामयी भाव में ठहरता है, उसी को निरन्तर ध्याता है। उसको चेतता है, उसी में निरन्तर विहार करता है... वह शीघ्र मोक्ष को प्राप्त करता है।**

☆ ★ ☆

पुण्य को पाप जाने वही ज्ञानी है

जो पाउ वि सो पाउ मुणि सव्वु इ को वि मुणेइ।
जो पुण्णु वि पाउ वि भणइ सो बुह को वि हवेई॥ ७१॥

पाप तत्त्व को पाप तो, जाने जग सब कोई।
पुण्य तत्त्व भी पाप है, कहें अनुभवी बुध कोई॥

अन्वयार्थ – **(जो पाउ वि सो पाउ मुनि)** जो पाप है उसको पाप जानकर **(सव्वु इ को वि मुणेइ)** सब कोई उसे पाप ही मानते हैं **(जो पुण्णु वि पाउ भणइ)** जो कोई पुण्य को भी पाप कहता है **(सो बुह को वि हवेइ)** वह बुद्धिमान कोई विरला ही है।

☆ ★ ☆

अब, ७१ (गाथा) बड़ा विवाद है। **पुण्य को पाप जाने वही ज्ञानी है।** उपोद्घात यह बाँधा है। शरीर, वाणी, मन तो पर है; हिंसा, झूठ, चोरी, विषय-भोग, वासना, कमाना, वह भाव पाप है परन्तु अन्दर में दया, दान, व्रत, भक्ति, तप, पूजा, यात्रा का भाव होता है, वह पुण्य (भाव है), वह पुण्य भी पाप है। है या नहीं अन्दर? है?

मुमुक्षु : खुल्लम खुल्ला है?

उत्तर : खुल्लम खुल्ला है? श्लोक है न? इसका गुजराती क्या है? है?

पापरूप को पाप तो जाने जग सब कोई।
पुण्य तत्त्व भी पाप है कहे अनुभवी बुध कोई॥

वस्तु हो ऐसी कहेंगे न! कहो, समझ में आया?

जो पाप है, उसे तो पाप जानकर सब कोई उसे पाप ही जानते हैं। हिंसा का भाव, झूठ का भाव, चोरी का भाव, भोग का भाव, कमाने का भाव, क्रोध, मान, माया, लोभ, भाव को तो सब कोई पाप कहते हैं परन्तु '**पुण्णु वि पाउ वि भणइ**' – वे बुद्धिमान कोई विरले हैं। **कोई पुण्य को भी पाप कहते हैं...** आहा...हा...! समझ में आया? यह दया, दान, भक्ति शुभभाव है। भगवान शुभभाव को छोड़कर केवली हुए हैं; शुभभाव को साथ रखकर नहीं हुए हैं। शुभभाव भी निश्चय से अपने शुद्ध पवित्र धर्म की दृष्टि की अपेक्षा से, वह पुण्यभाव भी पाप ही है। आहा...हा...! चिल्लाते हैं, वर्तमान में तो अभी पुण्य का भी ठिकाना नहीं होता, वह धर्म। नगिनभाई! जाओ एक यात्रा करी, ९९वें यात्रा करी, वह धर्म। धूल में भी धर्म नहीं है। ९९वें क्या? सूख जाये

नहीं वहाँ अनन्त बार, वह शुभभाव है, हाँ शुभभाव है। आत्मा के स्वभाव से पतित होता है, इसलिए पाप है।

'***बुह***' शब्द पढ़ा है न? देखो! बुध - ***बुह***। ज्ञानी उसे पाप कहते हैं – मूल पाठ में तो ऐसा कहते हैं। अज्ञानी, पाप को पाप तो सब कोई कहते हैं परन्तु ज्ञानी पुण्य को भी पाप कहते हैं क्योंकि उससे आत्मा का कल्याण नहीं होता। आहा...हा...! यह तो 'योगीन्द्रदेव' दिगम्बर मुनि ८०० वर्ष पहले भरतक्षेत्र में हुए हैं। यह अभी का कथन नहीं है, पहले का पाठ है।

मुमुक्षु : यात्रा करने नहीं जाना?

उत्तर : जाने, नहीं जाने की (बात नहीं है), वह शुभभाव हो, परन्तु वह शुभ पुण्य बन्धन है, उसे पुण्य गिनना और निश्चय से उसे पाप गिनना। व्यवहार से पुण्य, निश्चय से पाप। लो! आहा...हा...! बहुत कड़क। वे कहते हैं – भगवान के दर्शन करे तो मोक्ष हो जायेगा। हे प्रभु! शिवपद हमको देना। देना, देना रे महाराज! शिवपद हमको देना। वहाँ भगवान के पास तेरा शिवपद होगा?

मुमुक्षु : वह भगवान के पास नहीं होगा तो कहाँ होगा?

उत्तर : इस भगवान के पास है, निज भगवान के पास अपना शिवपद है, अन्तर में शिवपद पड़ा है। बाहर से आनेवाली चीज कहाँ है? भगवान कहाँ देते हैं? और भगवान की भक्ति से क्या मिलता है? पुण्य होता है, शुभभाव होता है। पाप से बचने के लिए शुभभाव होता है। निश्चय से अपना स्वरूप अमृत है। भगवान अमृतस्वरूप है। पुण्य में आना, वह भी अपने स्वरूप से पतित होता है, इस अपेक्षा से ज्ञानी पुण्य को पाप कहते हैं। अज्ञानी को मीठा लगता है, इसलिए उसकी भाषा में मीठा कहते हैं। मीठा किसका? पुण्य का फल जहर है। पुण्य का भाव स्वयं जहर है और उसके फल संयोग मिले और धूल मिले – स्त्री, पुत्र, पैसा मिले, उसमें क्या फल है? वह तो परवस्तु है। पर में कहाँ आत्मा आया? उसका लक्ष्य करके भोग लेना, वह तो राग है, वह तो अशुभराग है। वह अशुभराग तो पाप है ही, जहर है ही। आहा...हा...! परन्तु पुण्य भाव भी जहर है, पाप है – ऐसा ज्ञानी कहते हैं। आहा...हा...! कितने ही तो मुनि

को खोटा ठहरते हैं। कहते हैं नहीं, ऐसा नहीं होता; नहीं बैठे उसे उड़ा दे - नहीं, यह नहीं। यह क्या कहते हैं, देखो ?

जो पुण्णु वि पाउ वि भणइ सो बुह को वि हवेई। वे ज्ञानी कोई-कोई होते हैं। पुण्य को भी पाप कहते हैं, वे ज्ञानी कोई होते हैं। अज्ञानी तो पाप को पाप कहता ही है, ज्ञानी भी पाप को पाप कहते हैं, परन्तु ज्ञानी पुण्य को भी पाप कहते हैं। आहा...हा...! अपने शुद्ध स्वरूप को छोड़कर जितने ये शुभ-अशुभ विकल्प उठते हैं, परमार्थ से-पवित्रता की अपेक्षा से – वे अपवित्रभाव हैं; निश्चय की अपेक्षा से अपने अमृत आनन्द को लूटनेवाला वह शुभभाव है। आहा...हा...! मदद करनेवाला नहीं। आहा...हा...! अज्ञानी कहते हैं कि वह शुभभाव है तो उससे क्षायिक समकित होता है। शुभभाव से क्षायिक समकित होता है, शुभभाव से ऐसा होता है। अरे... भगवान!

यहाँ तो कहते हैं शुभयोग तो – अपना अमृत-चैतन्य प्रभु, अमृत का सागर पड़ा है, उसमें से बाहर निकलना, वह शुभराग – अपने अमृत से विरुद्धभाव है; (इसलिए) ज्ञानी उसे पाप कहते हैं। पड़ते हैं, पड़ते हैं, निजस्वरूप में से बाहर निकलते हैं। आहा...हा...!

मुमुक्षु : पहला क्या करना ?

उत्तर : पहले इस स्वरूप की दृष्टि करना। पहले पुण्य और पाप के राग की रुचि छोड़कर अपना शुद्ध भगवान आत्मा पवित्र है उसकी दृष्टि करना, वह पहले में पहला सम्यग्दर्शन प्रगट करना। ज्ञानचन्दजी! क्या करना पहले ? आहा...हा...! भेद करना। समयसार में नहीं आया था ? पहले क्या करना ? आया था न ? सब थे न ? 'वंशीधरजी' (थे, तब कहा तो) खलबलाहट हो गया। हाय... हाय...! यह क्या कहते हैं ? देखो! यह क्या कहते हैं ? इसमें क्या लिखा है ? देखो! **आत्मा और बन्ध को प्रथम तो उनके निश्चय-स्वलक्षण के ज्ञान से सर्वथा छेदना।** 'प्रथम' शब्द पड़ा है। पहले में पहला भगवान 'कुन्दकुन्दाचार्यदेव' सन्त केवली कहते हैं। भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूपी है और बन्ध में राग-पुण्य, दया, दान सब बन्धभाव है। **प्रथम तो आत्मा और बन्ध, उनके नियत-निश्चय स्वलक्षण...** राग का बन्ध स्वलक्षण है, भगवान आत्मा ज्ञानलक्षण से विराजमान भिन्न है, उन्हें सर्वथा छेदना – ऐसा शब्द यहाँ पड़ा है। संस्कृत टीका है। थोड़ा सा भी राग का अंश मुझे मदद करेगा – ऐसा नहीं है। समझ में आया ?

मुमुक्षु : सुनने का किस प्रकार ?

उत्तर : यह करे। (बाकी) सब तो अनन्त बार सुना है। उसमें क्या किया उसने ?

देखो! पहले अमृतचन्द्र आचार्यदेव ने **'जीवो बंधो य तहा छिज्जंति सलक्खणेहिं णियएहिं'** उसमें से निकाला है। बन्ध को छेदना, उस बन्ध को छेदना। पुण्य-पाप के परिणाम, वे बन्धरूप स्वरूप हैं। भगवान आत्मा ज्ञान-आनन्दस्वरूप है। दो को पहले भिन्न करना, ये पहले में पहला आत्मार्थी का कर्तव्य है। समझ में आया ? इसको छूटना है या नहीं ? छूटना है या नहीं ? या बँधना है ? बँधना है तो अनादि से बँधता है। अब छूटना हो तो पहले क्या करना चाहिए ? पुण्य-पापभाव और आत्मा भिन्न है। – ऐसी पहले दृष्टि करना।

मुमुक्षु : पापभाव तो पाप है परन्तु पुण्य किस प्रकार पाप है।

उत्तर : वह पुण्य अर्थात पवित्र आत्मा। पुण्य पाप के विकल्प, दोनों पाप है; बन्ध है; दुख के कारण है; दोनों जहरीले भाव है। भगवान आत्मा अमृत स्वरूप है। दोनों का सर्वथा भेद करना – ऐसा पाठ पढ़ा है। देखो! फिर कहते हैं – रागादि जिसका लक्षण है, **उस समस्त बन्ध को छोड़ना।** देखो! राग किसका लक्षण है ? शुभभाव राग का लक्षण है या आत्मा का लक्षण है ? प्रथम में प्रथम कुन्दकुन्दाचार्य महाराज कहते हैं। **तावत,** प्रथम। समझ में आया ? २९५ गाथा।

पहले में पहले तुझे आत्मा का कर्तव्य करना हो अथवा मोक्ष का / छूटने का उपाय करना हो तो पुण्य-पाप के भाव-विकल्प बन्ध का लक्षण है, भगवान आत्मा ज्ञान लक्षण से भिन्न विराजता है। दो का सर्वथा भेद, छेद करना, वही उसका प्रथम कर्तव्य है। पुण्य -पाप के भाव से भगवान आत्मा का भेदज्ञान करना, भेदज्ञान करना, वही उसका प्रथम आचरण है, वही पहला कर्तव्य है। वह कर्तव्य अनन्त काल में जीवों ने नहीं किया है, बाकी सब अनन्त बार किया है। जैन मुनि दिगम्बर होकर नौवें ग्रैवेयक अनन्त बार गया। उसमें क्या हुआ ? शुभभाव की क्रिया की, शुक्ललेश्या हुई तो स्वर्ग में गया।

मुमुक्षु : शुक्ललेश्या में तो वहाँ सुख भोगा न।

उत्तर : सुख कहाँ ? धूल में सुख था ? इकतीस सागर दुख भोगकर आया। सुख कब (था), सुख तो आत्मा में है। आहा...हा... ! सुख तो आत्मा में है। उस पुण्यभाव से

स्वर्ग मिला तो पुण्यभाव दुःख है और (उसके फल में) स्वर्ग मिला वह भी दुख है। धूल में कहाँ सुख था? ओ...हो...हो... आत्मा में सुख है, यह बात अभी सुनते हैं। एक व्यक्ति कहता था। आत्मा में सुख है, आत्मा में सुख है यह कहाँ सुना था? आत्मा में सुख है। तुमने कहा था न? कल सायं किसी ने कहा था। उसने कहा था। ठीक! भाई ने कहा था, सच्ची बात है। उसने शाम को कहा था कि आत्मा में सुख है यह सुना ही पहली बार है। उन पुण्य-पाप के भाव में भी सुख नहीं है, उनके बन्धन में भी सुख नहीं है, उनके फल में भी सुख नहीं है।

भगवान केवलज्ञानी परमात्मा त्रिलोकनाथ तीर्थङ्करदेव की वाणी में हुकम आया है कि हे आत्मा! आनन्द तेरे स्वरूप में है। पुण्य-पाप के भाव में आनन्द नहीं है, पुण्य-पाप से बन्धन पड़ता है, उनमें आनन्द नहीं है। यह तीर्थङ्करप्रकृति का बन्ध पड़े, उसमें आनन्द नहीं है, जिस भाव से तीर्थङ्करप्रकृति बँधती है, उस भाव में आनन्द नहीं है और प्रकृति का फल समवसरण मिले, उसमें आनन्द नहीं है। ऐसा कहते हैं। आहा..आहा... अद्भुत काम, भाई! ऐ... मांगीरामजी! बेचारे कितने ही साधु तो ऐसे धूज उठते हैं, हाँ! अरे...रे...रे...! ऐसा मार्ग! मार्ग तो ऐसा है। मान या मत मान मार्ग दूसरा नहीं होता। आहा..हा...हा...।

वास्तव में आत्मा और द्विधा करने का प्रयोजन है कि बन्ध के त्याग से शुद्ध आत्मा का ग्रहण करना... प्रथम शब्द लिया है, उस दिन वहाँ भटके थे। किस साल? (संवत २००२ साल) दूसरे साल। २० वर्ष हुए माघ महीने में साढ़े बीस वर्ष हुए। आहा...हा...हा...। व्याख्यान में गाथा ठीक यह २९५ वीं आई। उसमें आया... प्रथम क्या करना? धर्मदृष्टि करनेवाले को प्रथम क्या करना? प्रथम पुण्य-पाप का राग बन्धस्वरूप से भगवान आत्मा भिन्न है – ऐसा प्रथम पर से सर्वथा भेदज्ञान करना। सर्वथा पर से (भेदज्ञान करना)। सर्वथा (कहा है), कथञ्चित राग की मदद और कथञ्चित (ज्ञान की मदद) – ऐसा नहीं है। शशीभाई! सर्वथा जैन शासन में होता है? सर्वथा होता है? कथञ्चित् होता है। यहाँ तो (कहते हैं) सर्वथा छेदना। चिल्लाते हैं, अनेकान्त.... अनेकान्त है। सर्वथा छेदना, एक अंश लक्ष्य में रखना नहीं उसका नाम अनेकान्त है। विमलचन्दजी! लो, अब युवकों को बैठ जाता है न! उन्हें नहीं बैठता बड़े, उल्टे पढ़-पढ़कर पढ़े हैं।

मुमुक्षु : विपरीत पढ़े न किन्तु।

उत्तर : वे भी पढ़े हैं, नहीं पढ़े ? आहा...हा...हा... ! अरे भाई ! पहले तेरे निर्णय का भी ठिकाना नहीं है तो तेरा मार्ग कहाँ से निकलेगा ? आत्मा का मार्ग तो रागरहित है, उसमें से निकलेगा या राग में से निकलेगा ? आहा..हा... !

सम्पूर्ण वीतराग मार्ग-सर्वज्ञ परमेश्वर का मार्ग, तीर्थङ्कर का मार्ग (यह है कि) पुण्य-पाप दोनों राग बन्ध का कारण है। भगवान अबन्धस्वरूपी चैतन्य लक्षण है। दोनों को अन्तर में भिन्न करना, सर्वथा भिन्न करना... दया रखे बिना। अरे रे ! अनादि से मैंने पुण्य किया है। मेरे पास है तो थोड़ा रखूँ – (ऐसा अभिप्राय नहीं रखते हुए)।

परमात्मप्रकाश में कहा है कि अरे... ! अनादि का बन्धु, कर्म और राग साथ में आये, बन्धु को निर्दय होकर मार डाला। साथ में आए हैं न ? हमेशा साथ रहते थे। अनादि से पुण्य-पाप के भाव साथ रहते थे और जड़कर्म भी साथ रहते थे। निर्दयी होकर बन्धु का छेद कर डाला। परमात्मप्रकाश में योगीन्द्रदेव (कहते हैं)। ये भी योगीन्द्रदेव हैं। योगीन्द्रदेव कहते हैं, मुनि-सन्त-धर्मात्मा ऐसे हैं कि अपने बन्धु को ही मारते हैं, बन्धु को ही उड़ाते हैं। बन्धरूप बन्धभाव-बन्धुरूप अनादि से साथ में है, उसे उड़ाया, छोड़ा। मेरा भाव नहीं है। मेरा चैतन्य भगवान आत्मा शुद्ध आनन्दकन्द है। इस प्रकार बन्धभाव को छेदकर अपने स्वभाव की दृष्टि करके अपने आत्मा को ग्रहण करके आत्मा का अनुभव करना ही धर्मी का प्रथम कर्तव्य है। जहाँ तक स्थिरता न हो, वहाँ तक बीच में शुभभाव होते हैं। भक्ति, पूजा, दया, दान, यात्रा का भाव होता है परन्तु वह भाव, बन्ध का कारण है। मोक्ष का कारण और धर्म का किञ्चित् कारण नहीं है। समझ में आया ?

कहते हैं, **जगत के समस्त प्राणी सांसारिक दुःखों से डरते हैं...** देखो ! बुद्ध कहा न ? बुद्धिमान को ही विरले हैं। पुण्य को पाप कहनेवाले बुद्धिमान हैं, उन्हें बुद्धिमान कहते हैं। पुण्य को पुण्य कहे, वह तो साधारण जनता भी कहती है। आहा...हा... ! परन्तु बुद्ध-बुद्धिमान, ज्ञानवन्त, भगवान की आज्ञा स्वीकार करनेवाले पुण्य को भी पाप कहकर छोड़ना चाहते हैं। **जगत के समस्त प्राणी सांसारिक दुःखों से डरते हैं तथा इन्द्रिय**

सुख चाहते हैं। सामान्य रीति से यह बात प्रसिद्ध है कि पाप से दुःख होता है और पुण्य से सुख होता है। यह साधारण लोग इस चर्चा में पड़ते हैं।

जब धर्म की चर्चा होती है, तब यही विचार किया जाता है कि पापकर्म मत करो पुण्यकर्म करो। पुण्य से उत्कृष्ट कर्म बँधते हैं। देखो! पुण्य से ऊँचे कर्म बँधते हैं। **धन, कुटुम्ब, पुत्र, पत्नी, राज्य और अनेक विषय भोगों की सामग्री का लाभ एक पुण्य से ही होता है। इन्द्र पद, अहमिन्द्र पद, चक्रवर्ती पद और नारायण और प्रतिनारायण, कामदेव या तीर्थङ्कर का पद आदि महान-महान पद पुण्य से ही मिलते हैं।** संसार में चर्चा होवे तब यह होती है। कहते हैं, यह पुण्य करो, पुण्य करने से ऐसी पदवी मिलेगी, ऐसी पदवी मिलेगी।

यहाँ आचार्य कहते हैं कि जो संसार के भोगों के लोभ से पुण्य को ग्रहण योग्य मानता है, वह मिथ्यादृष्टि अज्ञानी है। वह पुण्यभाव ग्रहण करने योग्य है, पुण्यभाव आदर करने योग्य है, पुण्यभाव ठीक है, भोग की इच्छा करनेवाले प्राणी मिथ्यादृष्टि अज्ञानी हैं। कहो, रतनलालजी! है या नहीं? श्लोक मे है, देखो!

मुमुक्षु : पुण्य और पाप को एक तथ्य कर डाला।

उत्तर : पुण्य और पाप एक हो गये, आस्रव।

सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पाप की तरह पुण्य को भी बन्धन जानता है...आहा...हा...! श्रद्धा का ठिकाना नहीं, ज्ञान का ठिकाना नहीं, उसे धर्म कहाँ से होगा? आहा...हा...! कहो, समझ में आया? **वे पुण्य को भी पाप कहते हैं।** पुण्य को भी बन्धन जानते हैं और पुण्य को भी पाप कहते हैं। धर्मी तो पुण्य को भी बन्धन जानते हैं तो बन्धन के कारण से उसे पाप कहते हैं। **जिससे संसार में रहना पड़े, जिसे भोगों में फंसना पड़े, वह स्वाधीनता घातक पुण्य भी पाप ही है।** स्वाधीनता का घातक पुण्य भी पाप है। पुण्य स्वाधीनता का घातक है। आहा...हा...! यहाँ तो अभी पुण्य की मिठास (वेदते हैं) कि पैसा मिले और फिर देव होऊँगा और फिर धूल होऊँगा। है? अरे...रे...! अरे भगवान! वह भी आत्मा है न! उल्टा पड़े तो भी वह है न! तीर्थङ्कर का समझाया न समझे और अनन्त परीषह पड़े तो भी समकिती डगमगाए नहीं। इसमें दोनों ताकत हैं। आहा...हा...!

वज्र के, अग्नि के, ऊपर से प्रहार पड़े तो भी धर्मी अपने स्वरूप से नहीं डिगता। मैं चैतन्यमूर्ति हूँ, दूसरी वस्तु मैं नहीं हूँ। देव आकर मार-फाड़ करके टुकड़े कर डालें (और कहें) पुण्य में धर्म है – ऐसा मान; पुण्य धर्म का कारण है – ऐसा मान; नहीं तो मार डालूँगा। कौन मारे ? किसे मारे ? क्या है ? हम तो पुण्य-पाप से रहित अपने स्वभाव की दृष्टि में धर्म मानते हैं, दूसरे में धर्म नहीं मानते। समझ में आया ?

ज्ञानी को एक आत्मा का आनन्द ही प्रिय है। पुण्य प्रिय नहीं है। धर्मी जीव को पुण्यभाव प्रिय नहीं है। आहा...हा...। **उसका पूर्ण लाभ और अनन्त काल तक निरन्तर लाभ तभी होता है....** किसका ? आत्मा का, आनन्द का। आत्मा का आनन्द प्रिय है उस आनन्द का पूर्ण निरन्तर लाभ कब मिलता है ? **जब यह जीव संसार से मुक्त होकर सिद्ध परमात्मा हो जाए, पुण्य से पाप से रहित हो जाए इससे ज्ञानी जीव पुण्य-पाप दोषों को बन्धन की अपेक्षा से समान जानता है।** पुण्य-पाप दोषों को, ऐसा। पुण्य-पाप दोषों को, शुभ और अशुभभाव दोनों दोषों को...दोष कहा है न प्रतिक्रमण के अधिकार में लिया है। दोनों शुभ-अशुभभाव दोष हैं। **पुण्य-पाप दोषों को बन्धन की अपेक्षा समान जानता है। आहा...हा...!**

दोनों के बन्ध का कारण कषाय का मलिनता है। दोनों के बन्ध का कारण (कषाय की मलिनता है)। पुण्य से भी बन्धन होता है और पाप से भी बन्धन होता है। बाहर का वेश पलटता है परन्तु आत्मा नहीं पलटती। पुण्य बन्धता है तो स्वर्ग मिलता है वहाँ तो वेश पलटा उसमें आत्मा कहाँ पलटता ? समझ में आया ? शुभभाव से पुण्य बँधा पुण्य बन्ध से स्वर्ग मिला, धूल की सेठाई मिली वह तो बाहर का वेष पलटा अन्दर क्या पलटता। समझ में आया।

मन्दकषाय से पुण्य व तीव्रकषाय से पाप बँधता है। कषाय आत्मा के चारित्र गुण के घातक हैं। दोनों का स्वभाव पुद्गल है। साता वेदनीय, शुभ आयु, शुभ नाम, उच्च गोत्र, पुण्य कर्म व असाता वेदनीय, अशुभ आयु, अशुभ नाम, नीच गोत्र तथा चार घातीय कर्म पापकर्म है। दोनों की कर्मवर्गणाएँ आत्मा के चेतन स्वभाव से भिन्न है।

पुण्य का अनुभव सुखरूप है, पाप का अनुभव दुःखरूप है। ये दोनों ही अनुभव आत्मा के स्वाभाविक अनुभव से विरुद्ध हैं। सुख...सुख। कैसा मिला पुण्य का फल मीठा कहते हैं दोनों ही अनुभव आत्मा के स्वाभाविक अनुभव से विरुद्ध हैं। भगवान अतिन्द्रिय आनन्द, अपना अतिन्द्रिय शुद्ध सुख, अपना अतिन्द्रिय शुद्ध सुख के अनुभव से पुण्य पाप के भाव अत्यन्त विभाव विरुद्ध भाव है। विरुद्ध भाव है उसमें एक ठीक है और दूसरा अठीक है। ऐसा नहीं आता। अद्भुत बात, भाई! कल आया था न? विरला सुने तत्व को, इस बात को कोई विरला सुनता है। सुननेवाला कहे नहीं, नहीं ऐसा नहीं होता, ऐसा नहीं होता। कुछ पुण्य चाहिये। पुण्य से यह होता है ऐसा सुननेवाले बेचारे झुण्ड के झुण्ड हैं। पुण्य और पाप दोनों बन्धनरूप, दुःखरूप, आत्मा के अनुभव से विरुद्ध, स्वभाव से विभावरूप भिन्न हैं। ज्ञानी उन्हें लाभदायक नहीं मानते हैं। आहा...हा...!

दोनों अनुभव कषाय की कलुषिता का स्वाद है। दोनों का स्वाद (कलुषित है) **शुद्धात्मा में रमणता का घातक है। दोनों ही अनुभव कषाय का कलुषिता का स्वाद है।** पुण्यभाव का स्वाद कषाय का, पापभाव का स्वाद कषाय का। कषाय समझे? विकार। दोनों में विकार का स्वाद है।

मुमुक्षु : विकार कम ज्यादा होता है।

उत्तर : कम ज्यादा, जाति एक है न? दोनों दुःख की जाति हैं। **पुण्य और पाप दोनों ही नए बन्ध के कारण हैं। दोनों में तन्मय होने से कर्म का बन्ध होता है।** ठीक लिखा है। पुण्य और पाप दोनों भाव में तन्मय होने से बन्ध होता है। **यह बन्ध मोक्षमार्ग में विरोधी है।** यह पुण्य परिणाम मोक्षमार्ग का विरोधी है। पुण्य-पाप आत्मा के धर्म के लुटेरे हैं। शशीभाई! वीतरागमार्ग की बात पामर (जीव) नहीं झेल सकते। आहा...हा...! **ऐसा जानकर ज्ञानी जीव पाप की तरह पुण्य को भी अच्छा या ग्रहण योग्य नहीं मानते वे शुभ और अशुभ दोनों भावों से विरक्त रहते हैं, कर्म का क्षय करनेवाला और आत्मा को आनन्दित देनेवाला ऐसे एक शुद्धोपयोग को भी मान्य कहते हैं।** आहा...हा...!

विशेष कहेंगे... (**श्रोता** – प्रमाण वचन गुरुदेव।)